
इकाई 1 दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता-संग्राम

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद
- 1.3 दक्षिण एशिया में स्वतंत्रता-संग्राम
 - 1.3.1 भारत
 - 1.3.2 पाकिस्तान
 - 1.3.3 बांग्लादेश
 - 1.3.4 श्रीलंका
 - 1.3.5 नेपाल
 - 1.3.6 भूटान
 - 1.3.7 मालदीव
- 1.4 सारांश
- 1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य दक्षिण एशिया में राष्ट्र और राष्ट्रवाद की धारणा से तथा इस भूभाग के विभिन्न देशों में औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के लिए हुए संघर्षों से आपको अवगत कराना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों में राष्ट्रवादी चेतना के उदय को स्पष्ट कर सकें;
- स्वतंत्रता आन्दोलन में शामिल किए गए मुद्दों का वर्णन कर सकें; तथा
- इस भूभाग में उदारवाद हेतु अपनाई गई विभिन्न रणनीतियों की पहचान कर सकें।

1.1 प्रस्तावना

दक्षिण एशिया का इतिहास सात हजार साल पुराना अनवरत इतिहास है। इसमें उस संयुक्त संस्कृति के दर्शन होते हैं जो एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से विकसित हुई है जिसमें अनेकता में एकता पर जोर दिया गया है। दक्षिण एशिया बार-बार विदेशी आक्रमण का शिकार होता रहा है। इस भूभाग की समृद्धि ने ही शायद चारों ओर से आक्रमणकारियों को आकर्षित किया। प्राचीन काल से ही आक्रमणों की एक के बाद एक लहर के साथ इस क्षेत्र में आर्यों, यूनानियों, शक, हूण, तुर्कों-अफगान, मुगलों व अन्य लोगों का आगमन हुआ। आधुनिक काल में, दक्षिण एशिया में यूरोपवासी आए, यथा पुर्तगाली, हॉलैंडवासी, फ्रांसीसी व ब्रिटेनवासी, यद्यपि

ब्रिटेनवासियों ने ही अन्ततः इस भूभाग पर अपनी पकड़ बनाई। ब्रिटिश आक्रमण पहले के आक्रमणों से गुणात्मक रूप से भिन्न थे। जबकि इससे पूर्व यहाँ आक्रमणकारी आये, बसे और देशी लोगों के साथ घुलमिल गए, ब्रिटेनवासियों अर्थात् अंग्रेजों ने इस भूभाग को अपने साम्राज्य का हिस्सा बनाया और उस पर लन्दन से शासन किया। इस क्षेत्र को औद्योगिक रूप से उन्नत अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के साथ जोड़ा ताकि उसके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा सके। दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्था एवं समाज साम्राज्यवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक विकास के अधीन हो गई। यह क्षेत्र अंग्रेजों के मशीनीकृत माल के लिए बाज़ार, कच्चा-माल व खाद्य-पदार्थों के एक स्रोत, तथा पूँजी निवेश के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में तब्दील हो गया। यूरोप और दक्षिण एशिया के बीच आर्थिक संबंधों के सम्पूर्ण प्राधार ने, जिसमें व्यापार, वित्त व्यवस्था और प्रौद्योगिकी शामिल थे, औपनिवेशिक निर्भरता और परवर्ती के अल्पविकास को लगातार बढ़ाया। अधीनता की यह नई राजनीतिक-आर्थिक प्रणाली, जिसे उपनिवेशवाद कहा गया, यूरोप के एक अग्रणी पूँजीवादी क्षेत्र के उदय के रूप में परिणत हुई जबकि उपनिवेश दुनिया के पिछड़े और अल्पविकसित क्षेत्र बना दिए गए। आने वाले समय में, इस आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व ने अनेक संघर्षों और अन्तर्विरोधों की ओर प्रवृत्त किया जो कि अन्ततः राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रतार्थ आन्दोलनों की बढ़वार में फलित हुआ।

1.2 दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद

मोटे तौर पर, इस क्षेत्र में औपनिवेशिक शासन के तीन प्रतिमान रहे। जबकि ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में वह क्षेत्र आता था जिसमें वर्तमान भारत, पाकिस्तान व बांग्लादेश के गणराज्य शामिल थे, श्रीलंका एक 'ताज उपनिवेश' के रूप में शासित था। नेपाल, भूटान, मालदीव आदि छोटे देश ब्रिटिश उपनिवेश नहीं थे, अपितु 'संरक्षित राज्य' थे, यानी अपने बाह्य संबंधों की खातिर अपनी स्वायत्तता को अर्पित कर देने के बदले में, उनके स्वतंत्र अस्तित्व की अंग्रेजों द्वारा रक्षा की जाती थी। औपनिवेशिक शोषण और अधीनता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया स्वरूप दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद के जन्म लेते ही वे क्षेत्र जो औपनिवेशिक प्रशासन के सीधे नियंत्रण में थे, वहाँ सशक्त उपनिवेश-विरोधी तथा राष्ट्रवादी आन्दोलनों का उदय देखा गया।

दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद का उदय और विकास औपनिवेशिक शोषण और अधीनता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था। राष्ट्रवाद के इस नए रूप ने, जो दक्षिण एशिया में नए राज्यों का आधार बन गया, अपनी विचारधारा और राजनीति-सिद्धांत का काफी कुछ पश्चिम से ही प्राप्त किया परन्तु फिर उसे विशिष्ट परिस्थितियों एवं अनुभवों के अनुकूल कर लिया गया। इस नए राष्ट्रवाद का आधार साम्राज्यवाद व साम्राज्यवाद के प्रतीकों के प्रति एक मूल प्रवृत्तिक एवं विदेशी द्वेषपूर्ण घृणा था। यह उनके खिलाफ एक सहज घृणा थी जिन्होंने उनकी ज़मीन पर बलपूर्वक कब्जा किया था, बलपूर्वक ही उनकी समृद्धि का दोहन किया था, उनकी शासन-प्रणाली को नष्ट कर दिया था, और उनकी जनता को गुलाम बना लिया था। राष्ट्रवाद भी एक रचनात्मक शक्ति बन गया था जो कि एक स्वतंत्रता, स्वाधीनता, आर्थिक न्याय व राष्ट्रीयता आदि सिद्धांतों पर आधारित राष्ट्र का निर्माण किए जाने पर अभिलक्षित था। इसने न केवल लोगों को संगठित किया, अपितु राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपना योगदान देने हेतु उन्हें प्रेरित भी किया। इस संबंध में नेतृत्व भारत द्वारा प्रदान किया गया जिसने विश्व में एक विशालतम जन-आन्दोलन को जन्म दिया। यह आन्दोलन न केवल उसे औपनिवेशिक नियंत्रण से मुक्त कराने में सफल हुआ, उसने बल्कि अपने पीछे स्वतंत्र भारत के लिए एक ऐतिहासिक रूप से विकसित, भली-भाँति सोचा-विचारा कार्यक्रम भी छोड़ा। भारत के उदाहरण ने श्रीलंका जैसे अन्य उपनिवेशों को भी प्रेरणा प्रदान की। उसने नेपाल, भूटान व मालदीव जैसे देशों में राजनीतिक चेतना भी जगाई।

1.3 दक्षिण एशिया में स्वतंत्रता-संग्राम

1.3.1 भारत

भारत में राष्ट्रवाद का उदय और विकास अनेक वस्तुपरक एवं व्यक्तिपरक शक्तियों की अन्तर्क्रिया का परिणाम था जो कि औपनिवेशिक शासन के दौरान ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरकर सामने आयी थीं। यद्यपि उपनिवेशवाद भारत के आर्थिक शोषण तथा उसकी कृषि एवं हस्तशिल्प की बर्बादी में परिणत हुआ, उसने भारत के राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण की ओर भी प्रवृत्त किया। आधुनिक परिवहन, नई शिक्षा, समाचार-पत्र आदि के आ जाने से जुड़ा यह कारक राष्ट्रीय चेतना के उदय में परिणत हुआ। चूँकि भारत में राष्ट्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद (जो कि अपने निष्कासन तक विदेशी ही रहा) के तत्वावधान में विकसित हुआ था, उसके विकास एवं समेकन में ढेरों अवरोध पैदा हुए।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विभिन्न चरणों से होकर गुज़रा और हर दौर के गुज़रते ही उसके सामाजिक आधार और अधिक विस्तृत हुए, उसके लक्ष्य और अधिक स्पष्ट हो गए और उसकी अभिव्यक्ति के तरीकों में विविधता आयी। राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम चरण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई.एन.सी.) के गठन के साथ 1885 में शुरू हुआ और करीब-करीब 1905 तक चला। इस दौरान में आन्दोलन का नेतृत्व दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, एम.जी. रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फ़िरोज़शाह मेहता आदि उदारवादी नेताओं के हाथों में रहा। इस मुकाम पर, आन्दोलन का उद्देश्य स्वतंत्रता नहीं बल्कि राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधार था। राजनीतिक स्तर पर इसकी माँग थी – केन्द्रीय व स्थानीय विधायी परिषदों को सुधारना ताकि भारतीय प्रतिनिधियों के लिए और अधिकार सुनिश्चित किए जा सकें (जो कि भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892 को पारित किए जाने में परिणत हुआ)। प्रशासनिक स्तर पर, सबसे महत्वपूर्ण माँग थी – इंग्लैण्ड और भारत में एक साथ भारतीय लोक सेवा (आई.सी.एस.) परीक्षा के माध्यम से प्रशासनिक सेवाओं की उच्च श्रेणियों का भारतीयकरण किया जाना। आर्थिक स्तर पर, यह माँग देश के उद्योगीकरण तथा भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिए जाने के पक्ष में थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपनाये गए तरीके उदारवादी विचारधारा द्वारा स्पष्ट रूप से नियत किए गए। संवैधानिक आन्दोलन, प्रभावशाली तर्क तथा ब्रिटिश लोकतांत्रिक चेतना व परम्पराओं का वास्ता देकर उत्साहपूर्ण अपील संघर्ष के स्वीकृत तरीके थे।

इस दौर में राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार संकीर्ण था, जन-साधारण इसके प्रति आकर्षित नहीं हो सका। इसका प्रभाव शहरी शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। मुसलमानों ने आम तौर पर सर सैय्यद अहमद खान के नेतृत्व को स्वीकार किया जाना पसंद किया। 1906 में, जब मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, मुस्लिम समुदाय अपने साम्प्रदायिक लक्षण से प्रभावित हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रहने की प्रवृत्ति दर्शाई।

इसी बीच, लॉर्ड कर्जन के रोबीले कदमों की वजह से अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष बढ़ा, जिसने न केवल भारतीयों के अधिकारों को कम करते भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम और कलकत्ता निगम अधिनियम जैसे अनेक कानूनों को पास किया अपितु बंगाल का विभाजन भी किया, दिखाने के लिए प्रशासनिक सुविधा के लिहाज से परन्तु राजनीतिक रूप से हिन्दू-प्रधान पश्चिम बंगाल और मुस्लिम-प्रधान पूर्वी बंगाल के बीच एक दरार पैदा करने के लिए। बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी जन नरमपंथी नेताओं की विचारधारा और तरीकों से मोहमुक्त हो गए। बालगंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, लाजपत राय और विपिनचंद्र पाल जैसे नेताओं के उत्कर्ष के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नए दौर में प्रवेश किया – अतिवादी अथवा खाड़कू दौर। इन अतिवादी नेताओं ने एक नई राजनीतिक धारणा और संघर्ष के तरीकों का इस्तेमाल किया। इनके कार्यक्रमों में शामिल थे – विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, ब्रिटिश सरकार से सभी संबंधों का विच्छेद, शिक्षा के लिए राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, तथा स्वदेशी का प्रचार। राष्ट्रवादियों

द्वारा बहिष्कार आन्दोलन आक्रामक रूप से अंग्रेज-विरोधी था। इसमें न केवल ब्रिटेन के माल का बहिष्कार अपितु सरकारी उपाधियों व पदों का परित्याग तथा परिषदों व विद्यालयों का बहिष्कार भी शामिल था। कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान कर यह देश के आर्थिक-पुनरुत्थान हेतु भी एक साधन बन गया। इन अतिवादियों ने जोर देकर कहा कि भारतीय और ब्रिटिश हितों के बीच एक जन्मजात विरोध है, साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन इस विरोध का सीधा परिणाम है। खाड़कू राष्ट्रवादियों के राजनीतिक प्रचार ने भारतीय जनता के मन में राष्ट्रीय गौरव, आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास की भावना भर दी। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को निम्न मध्य वर्ग, छात्रों एवं युवाओं से जोड़कर उसका आधार भी विस्तृत किया। परन्तु इस आन्दोलन ने हिन्दू धारणाओं का फिर से सहारा लिया और हिन्दू प्रतीकों का ही आह्वान किया जिसने उसके धर्म-निरपेक्ष अभिलक्षण को कमजोर किया। शायद यही कारण है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के एक बड़े जन-समूह को मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक विचारधारा को अपनाने से नहीं रोक सका।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी के पदार्पण से एक नया दौर शुरू हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान राजनीतिक गतिविधियाँ ठंडी पड़ गई थीं। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही कृषि मूल्यों में गिरावट, मध्यवर्गों की बढ़ती गरीबी, युद्ध के कारण ऋण, मूल्य वृद्धि, मुनाफाखोरी आदि की वजह से लोगों के बीच भारी बदअमनी फैली। गोरी सरकार ने भारतीय जनता को भारत सरकार अधिनियम, 1919 की सौगात पेश की जिसने प्रशासन में भारतीय लोगों की भागीदारी को बढ़ा दिया। परन्तु इस अधिनियम ने भारतीय नेताओं की आशाओं को पूरा नहीं किया। ऐसी परिस्थितियों में, अंग्रेजों ने 1919 में रौलट एक्ट लागू करके भारत में नागरिक स्वतंत्रताओं पर बड़ा प्रतिबंध लगा दिया।

मोहनदास करमचंद गाँधी ने, जो 1914 में दक्षिण अफ्रीका से वापस लौट आये थे, रौलट एक्ट, 1919 के खिलाफ प्रतिरोध की अहिंसात्मक कार्यवाहियों का एक सिलसिला शुरू कर अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। अगले ही साल गाँधी जी ने कांग्रेस का पुनर्गठन किया – यह अब राष्ट्रीय नेताओं के सालाना जमावड़े से एक जन-आन्दोलन में बदल गया, जिसमें सदस्यता-शुल्क और वांछनीयता इस प्रकार तय की गई कि उसमें भारत का गरीब-से गरीब आदमी भी शामिल हो सके। अगस्त 1920 में उन्होंने जुड़वाँ मुद्दों को लेकर एक व्यापक स्तरीय असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया – प्रथम, जलियाँवाला बाग त्रासदी के घावों को भरा जाना तथा दूसरे, खिलाफत आन्दोलन। अहिंसा और सत्याग्रह के माध्यम से असहयोग आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति में क्रांति ला दी। यह एक जन-आन्दोलन में बदल गया। इसका त्रि-आयामी कार्यक्रम था – नैशनल असैम्बली, अदालतों व विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार। मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद व अन्य कई लोगों ने अदालतों को छोड़ दिया, छात्रों ने स्कूलों को छोड़ दिया और अध्यापकों ने स्कूलों-कॉलेजों से त्यागपत्र दे दिया। यह आन्दोलन बहिष्कार तक ही सीमित नहीं रहा, उसने कुछ सकारात्मक कार्यक्रम भी रखे, यथा राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं का खोला जाना तथा कुटीर व हथकरघा उद्योगों की स्थापना। बहरहाल, जब यह आन्दोलन चौरी-चौरा में हिंसक हो उठा तो गाँधी जी ने 1922 में असहयोग आन्दोलन समाप्त कर दिया।

इस असहयोग आन्दोलन का विशेष अभिलक्षण था – हिन्दू-मुस्लिम एकता। परन्तु आंदोलन वापस लेते ही देशभर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दोनों ने ही युद्धकारी कदम उठाये।

1928 में राष्ट्रीय आन्दोलन में उस वक्त एक नई जान पड़ गई जब ब्रिटिश सरकार ने भारत में लोकतांत्रिक सुधारों संबंधी आगामी उपायों का अध्ययन करने हेतु सायमन आयोग नियुक्त किए जाने की घोषणा की। कांग्रेस ने उक्त आयोग का इस आधार पर बहिष्कार किया कि इस आयोग में भारतीयों का प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था। उसने एक समानान्तर संविधान बनाना शुरू कर दिया जिसमें प्रमुख समुदायों की सहमति थी। एक सर्वसम्मति रिपोर्ट तैयार

करने के लिए मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने स्व-शासी राज्य पर आधारित एक सर्वदलीय संविधान तैयार किया। इस रिपोर्ट ने निजी और व्यक्तिगत सम्पत्ति में उपाधियों को भी मान्यता दी। समाजवादियों ने स्वतंत्रता के लक्ष्य को छोड़ देने के लिए इस योजना की आलोचना की। परन्तु अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इस रिपोर्ट को जिन्ना और मुस्लिम लीग का समर्थन नहीं मिला, जिन्हें लगता था कि मुस्लिम हितों की रक्षा नहीं की गई। चूँकि सर्वदलीय सम्मेलन ने लीग की माँगें नहीं मानीं, जिन्ना ने कांग्रेस से किनारा कर लिया।

इस दौरान, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के प्रतिनिधित्व वाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के युवा नेतागण रियासत के दर्जे से संतुष्ट नहीं थे और उन्होंने संपूर्ण स्वतंत्रता का आह्वान किया। 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'पूर्ण स्वराज' यानी पूरी आज़ादी, के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन नमक कानून तोड़कर 6 अप्रैल 1930 को शुरू हुआ। गाँधी जी ने इस आन्दोलन के लिए एक व्यापक योजना तैयार की। वह चाहते थे कि हर गाँव वर्जित नमक को जाकर लाए अथवा बनाए, महिलाएँ शराब की दुकानों, अफीम के अड्डों व विदेशी वस्त्रों को लेन-देन करने वाली दुकानों पर धरना दें; बच्चे-बूढ़े सभी खादी कातें और विदेशी कपड़ा जला दें, हिन्दू जन अस्पृश्यता से परहेज़ करें, छात्र-छात्राएँ सरकारी स्कूल छोड़ दें और सरकारी कर्मचारी अपनी नौकरियों से त्यागपत्र दे दें। सरकार ने अनेक अध्यादेश जारी कर, कांग्रेस और उसकी सभी शाखाओं पर प्रतिबंध लगाकर, अखबारों एवं छापाखानों को बंद करवाकर और करीब 90,000 लोगों को गिरफ्तार कर इसका जवाब दिया। तदोपरान्त हुई वार्ताएँ गाँधी-इर्विन समझौते में परिणत हुईं जिसके द्वारा सभी राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया गया और गाँधी जी लन्दन में गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बनने को सहमत हो गए। गाँधी जी ने भारत हेतु संघीय पद्धति, अल्पसंख्यकों, सेना आदि की समस्याओं पर कांग्रेस के दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया। उन्होंने साम्प्रदायिक विभाजन का विरोध किया। परन्तु इस सम्मेलन में विभिन्न भारतीय गुटों, यथा कांग्रेस, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, सिख, देशी राजाओं आदि, में मतभेद होने के कारण कोई सहमति नहीं बन सकी और गाँधी जी सम्मेलन से खाली हाथ लौट आये। इसी बीच गोरी सरकार ने साम्प्रदायिक पुरस्कार की घोषणा कर दी जिसने न केवल मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों को, अपितु पददलित वर्गों को भी अलग-अलग निर्वाचक क्षेत्र दे दिए। गाँधी जी ने जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया। इसके परिणामस्वरूप पूना समझौता पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें पृथक् निर्वाचक क्षेत्र की बजाय पददलित वर्गों के लिए सीटें आरक्षित किए जाने का प्रावधान था।

संवैधानिक सुधार अन्ततः भारत सरकार अधिनियम, 1935 के रूप में सामने आये। इस अधिनियम में ब्रिटिश भारत के प्रांतों में स्वायत्त विधायी निकायों की स्थापना, प्रांतों व राजसी राज्यों को शामिल कर एक संघीय स्वरूप की सरकार बनाने तथा मुस्लिम अल्पसंख्यकों की रक्षा किए जाने संबंधी व्यवस्था थी। 1935 के इस अधिनियम ने भारतीय संवैधानिक विकास में एक नया अध्याय शुरू किया। यद्यपि यह अधिनियम राजनीतिक दलों की आशाओं पर खरा नहीं उतरा, सभी दलों ने 1937 में प्रांतीय विधानसभाओं (असेम्बली) के लिए चुनाव लड़ने का तय कर लिया। कांग्रेस ने सात में से पाँच प्रांतों में पूर्ण बहुमत और मुम्बई में लगभग बहुमत प्राप्त कर लिया। दूसरी ओर, मुस्लिम लीग किसी भी प्रांत में सरकार नहीं बना सकी और कांग्रेस के साथ उत्तर प्रदेश व मुम्बई में गठबंधन सरकार संबंधी उसके विचार को परवर्ती द्वारा ठुकरा दिया गया। इसने जिन्ना को और अधिक विमुख कर दिया। उन्होंने मुसलमानों को एक अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में नहीं बल्कि एक पृथक् राष्ट्र के रूप में देखना शुरू कर दिया। मार्च 1940 में जिन्ना ने 'द्वि-राष्ट्र' सिद्धांत का प्रस्ताव रखा और मुस्लिम लीग ने अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित कर दिया जिसमें भारत के पश्चिमी व पूर्वी कटिबंधों पर भौगोलिक रूप से सटे हुए भू-भागों को शामिल कर एक पृथक् मुस्लिम राज्य की माँग की गई थी।

जब द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया तो अंग्रेजों ने भारतीय नेताओं से सलाह किए बगैर ही भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रियों ने इसके विरोध में त्याग-पत्र दे दिया। 1942 में कांग्रेस ने माँग की कि अंग्रेज तुरंत भारत छोड़ दें और प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित कर दिया। परन्तु इससे पहले कि इस उद्देश्य को लेकर आन्दोलन छेड़ा जाता, गाँधी जी समेत सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और उक्त आन्दोलन ने नेतृत्वहीन होकर एक हिंसक मोड़ ले लिया। देश भर में हड़तालें, आंदोलन और विरोध-प्रदर्शन हुए। पुलिस थानों, डाकघरों एवं रेलवे स्टेशनों पर हमले किए गए, संचार व्यवस्थाएँ ठप कर दी गईं और रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गईं। इस दौर ने दर्शाया कि ज़रूरत पड़ने पर भारतीय जनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद समाप्त करने के लिए हिंसा का भी सहारा ले सकती है।

इस बीच, जिस वक्त कांग्रेस के नेतागण जेल में थे, जिन्ना को खुला मौका मिल गया कि मुस्लिम लीग के आधार को मज़बूत करें। लीग जल्द ही मुसलमानों की मुख्य प्रवक्ता बन गयी। 1943 के बाद एकमात्र सवाल जो रह गया वो था – भारत को सत्ता कैसे सौंपी जाये। अप्रैल 1945 में युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन में ताज़ा चुनाव हुए और नई लेबर सरकार के सामने अनेक राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ आन खड़ी हुईं। युद्ध ने ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था को कमजोर कर दिया था। अमेरिका और रूस जो महाशक्तियों के रूप में उभरे थे, उपनिवेशों को आज़ाद कर दिए जाने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन ने भारत जैसे एक उपनिवेश की देखरेख में परेशानी महसूस की, जो जन-आन्दोलन और भारतीय राष्ट्रीय सेना का विद्रोह देख चुका था। मार्च 1946 में गोरी सरकार ने एक कैबिनेट मिशन भारत भेजा। विभिन्न राजनीतिक दलों एवं संगठनों से लम्बे और विस्तृत विचार-विमर्श के बाद, मिशन ने देश को विभाजित करने हेतु मुस्लिम लीग की माँग को ठुकरा दिया और एक भारतीय संघ एवं एक संविधान सभा बनाए जाने विषयक अपने प्रस्ताव रखे। ये प्रस्ताव कांग्रेस एवं लीग दोनों द्वारा यद्यपि अनिच्छापूर्वक, स्वीकार कर लिए गए। सितम्बर 1946 में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार बनायी गई। मुस्लिम लीग भी सरकार में शामिल हुई परन्तु उसने नए संविधान के निर्माण में भाग न लेने का तय कर लिया। 20 फरवरी 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने जून 1948 के पहले-पहले भारत छोड़ देने हेतु सरकार के निर्णय के घोषणा की। लार्ड माउण्टबैटन को भारत भेजा गया ताकि सत्ता-हस्तांतरण हेतु इंतज़ाम कर सकें। इस बीच, अन्तरिम सरकार के भीतर कलहों से प्रशासन व्यवस्था के भंग होने का खतरा बना हुआ था। इन दो समुदायों के बीच शत्रुता ने भयावह रूप ले लिया था। जिन्ना इस बात पर अड़े हुए थे कि मुसलमान जन एक स्वायत्त राज्य से कम पर राजी नहीं होंगे। इस प्रकार भारत का विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना दोनों ही अपरिहार्य थे। माउण्टबैटन का फार्मूला यह था कि देश तो विभाजित होगा ही परन्तु पंजाब और बंगाल भी विभाजित होंगे ताकि उदित हुआ सीमित पाकिस्तान कांग्रेस एवं लीग दोनों के विचारों को कुछ हद तक संतुष्ट कर सके। विभाजन एवं स्वतंत्रता विषयक यह फार्मूला भारत में सभी प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा स्वीकार कर लिया गया और ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के माध्यम से उसे अंतिम रूप दे दिया गया। इस अधिनियम ने भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र राज्यों के निर्माण की व्यवस्था दी, बंगाल और पंजाब के विभाजन को संभव बनाया और दोनों देशों की संविधान सभाओं को अपने-अपने संविधान तैयार करने हेतु शक्ति प्रदान की। तदनुसार, 15 अगस्त 1947 को भारत ने आज़ादी हासिल कर ली और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सपना पूरा हो गया।

1.3.2 पाकिस्तान

पाकिस्तान बनने के मूल कारण और संघर्ष स्वतंत्रता-पूर्व भारत की साम्प्रदायिक राजनीति में छिपे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हुई मुख्य घटनाओं में एक थी – सम्प्रदायवाद का उदय और वर्धन। विपिनचन्द्र के अनुसार, सम्प्रदायवाद में तीन पड़ाव आते हैं : i) साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म तब होता है जब व्यक्ति जन अथवा समूह यह मानने लगते हैं कि उस

धर्म-विशेष के लोगों के सामूहिक सामाजिक-आर्थिक हित हैं; ii) दूसरा पड़ाव तब आता है जब एक व्यक्ति या एक समूह यह मानने लगता है कि विभिन्न धर्म-आधारित समुदायों के अपने-अपने विशेष हित हैं, हालाँकि इन हितों को समंजित एवं समायोजित किया जा सकता है; और तीसरा पड़ाव तब आता है जब धार्मिक मतभेदों को धर्म-विरुद्ध मतभेदों में बदल दिया जाता है और उन्हें एक-दूसरे से असंगत होने के रूप में देखा जाता है। यही पड़ाव है जिसमें पृथक् राष्ट्र की धारणा जन्म लेती है। भारत के प्रसंग में, 1930 तक समंजन और समायोजन संबंधी साम्प्रदायिक विचारधारा प्रचलन में थी परन्तु चालीस के दशक में उसने एक पृथक् राष्ट्र की चरम अवस्था प्राप्त कर ली जो कि देश के विभाजन में परिणत हुई।

सम्प्रदायवाद ने 19वीं शती के अंत में मानो एक अखिल भारतीय आयाम लेना शुरू कर दिया। ऐसी दशा में मुस्लिम अभिजात वर्ग द्वारा शुरू किए गए सुधार आन्दोलन अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार पर अभिलक्षित थे और मूल रूप से मुसलमानों को छोटे-मोटे कार्य-व्यापार में जाने के लिए तैयार करने की मंशा रखते थे। उन्होंने अपने समुदाय को आधुनिक विचारों से अवगत कराने का शायद ही प्रयास किया हो। सुधार आन्दोलन के सांप्रदायिक अभिगम ने मुस्लिम साम्प्रदायिक दलों एवं राजनीति के उदय और विकास हेतु आधार तैयार किया। अंग्रेजों ने इस घटनाक्रम का सकारात्मक जवाब दिया और मुसलमानों के बीच पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए सभी हथकण्डे अपनाये। ब्रिटिश उपनिवेशवादी पदाधिकारियों ने अपना आशीर्वाद मुस्लिम लीग को दिया जिसे दिसम्बर 1906 में एक अखिल भारतीय पार्टी का रूप दे दिया गया।

अपने प्रारम्भ से ही मुस्लिम लीग सशक्त साम्प्रदायिक अभिनति वाली एक रूढ़िवादी पार्टी रही। इसके नेतृत्व में ऐसे लोग थे जो अंग्रेजों के प्रति अपनी निष्ठा के लिए जाने जाते थे। उसने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों तथा सरकारी नौकरी में मुसलमानों के लिए रक्षार्थ पूर्वापायों की माँग की। उसने लोगों को संघटित करने के लिए साम्प्रदायिक राजनीति एवं विचारधारा का प्रयोग किया और उन्हें दिनोदिन जोर पकड़ते राष्ट्रीय आन्दोलन से परे रखा।

1912 में जब बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया तो अंग्रेजों के साथ-साथ मुस्लिम लीग भी व्याकुल एवं निराश हुई और ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही भारत के लिए स्वशासन की वकालत करने लगी। 1916 में उसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसके द्वारा कांग्रेस ने पृथक् निर्वाचन क्षेत्र व्यवस्था की स्वीकृति दे दी और दोनों ही पार्टियों ने भारत को अधिराज्य का दर्जा दिए जाने की दिशा में काम करने संबंधी अपनी मंशा जाहिर कर दी। हिन्दू-मुस्लिम एकता असहयोग आन्दोलन के दौरान अपने शिखर पर भी। यह समझौता 1922 में असहयोग आन्दोलन वापस लिए जाने के साथ ही समाप्त हो गया। आने वाले वर्षों में हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद को सर उठाते देखा गया जो देश के विभिन्न भागों में हो रहे दंगों के रूप में अपने कहानी कहता था।

सभी राजनीतिक दलों ने सायमन कमीशन का बहिष्कार किया और एक सर्वदलीय संविधान तैयार करने का फैसला किया। चूँकि मुस्लिम लीग नेता मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा सामने रखी गई माँगें सम्मेलन में पूरी नहीं की गईं, उसने कार्यतः अपना रास्ता कांग्रेस से अलग चुन लिया। परिणामतः, सभी मुस्लिम गुटों ने हाथ मिला लिया और एक अलग दस्तावेज़ सामने रखा जिसे 'जिन्ना का 14-सूत्रीय कार्यक्रम' कहा गया और जो भारत के भविष्य हेतु किसी भी आगामी विचार-विमर्श के लिए आधार बन गया। लीग की अड़ियल प्रकृति के कारण गोलमेज सम्मेलनों के दौरान किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सका। आग में घी डालने का काम किया ब्रिटिश सरकार के साम्प्रदायिक पुरस्कार (Communal Award) ने, जिसमें जिन्ना के 14-सूत्रीय कार्यक्रम में की गई लगभग सभी माँगें मान ली गई थीं।

1930 के बाद से मुस्लिम बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने भारत में एक पृथक् स्वतंत्र मुस्लिम राज्य के लिहाज से सोचना शुरू कर दिया। मुस्लिम लीग के 1930 के सत्र की अध्यक्षता करते हुए मुहम्मद इकबाल ने कहा – 'मैं पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रांतों, सिन्ध और बलूचिस्तान

को एक अलग राज्य में सम्मिलित देखना चाहता हूँ'। गोलमेज सम्मेलन में रहमत अली के नेतृत्व में इंग्लैण्ड में मुस्लिम छात्रों के एक गुट द्वारा एक मुस्लिम राज्य पाकिस्तान (PAKISTAN) का प्रस्ताव रखा गया (जिसमें चार प्रांतों का प्रथम अक्षर और अंतिम प्रांत का आखिरी सिरा लिया गया था)।

एक पृथक् मुस्लिम राज्य की लालसा के बावजूद लीग ने कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति का अनुशीलन किया और एक संगठित भारत के भीतर प्रांतों के बीच एक निर्बन्ध संघीय संबंध की हिमायत की। तथापि, 1937 के चुनावों के बाद, जिसमें लीग ने मुसलमानों के लिए आरक्षित 485 सीटों में से मात्र 108 सीटें जीतकर बुरा प्रदर्शन किया था, लीग एक कट्टर कांग्रेस-विरोधी पार्टी बन गयी। जैसे-जैसे मुसलमानों के बीच उसका समर्थन मज़बूत होता रहा, वैसे-वैसे एक ही राष्ट्र के रूप में साथ-साथ रहने संबंधी विचार का स्थान घृणा, भय और अलगाव की राजनीति ने ले लिया। हिन्दू और मुसलमानों के हित परस्पर विरोधी एवं शत्रुवत् घोषित कर दिए गए। मार्च 1940 में लाहौर सत्र में लीग ने द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को सामने रखा और एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में मुसलमानों के लिए 'स्वतंत्र राज्य' बनाये जाने की माँग की गई थी।

हालाँकि इस प्रस्ताव को उस वक्त गंभीरता से नहीं लिया परन्तु कुछ माह बीतते ही एक तीव्र परिवर्तन आया। 1943 तक आते-आते यह मुसलमानों के लिए एक आस्था की वस्तु और जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों, विधिकर्त्ताओं एवं प्रशासकों को नए राज्य में सत्ता हेतु पर्याप्त अवसर दिखाई दिए। वकीलों, चिकित्सकों, अध्यापकों, उद्यमियों तथा उद्योगपतियों वाले व्यावसायिक वर्ग ने अपनी गतिविधियों के लिए काफी संभावना देखी। बंगाल और पंजाब के मुस्लिम किसानों के लिए पाकिस्तान को हिन्दू जमींदारों और बनियों द्वारा शोषण का अंत बताकर प्रस्तुत किया गया।

लीग ने 1945-46 का चुनाव इस आधार पर लड़ा कि 'लीग और पाकिस्तान के नाम पर वोट, इस्लाम के नाम पर वोट' होगा। मुसलमानों के लिए आरक्षित 495 सीटों में से 440 जीतकर लीग ने अपने आपको मुसलमानों के बीच एक प्रबल राजनीतिक दल के रूप में स्थापित कर लिया। जिन्ना ने घोषणा कर दी कि पाकिस्तान के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं हो सकता। कैबिनेट मिशन योजना ने पाकिस्तान बनाये जाने को निरस्त कर दिया और एक अंतरिम सरकार बनाये जाने का आह्वान किया। प्रारम्भतः लीग सरकार में शामिल नहीं हुई, परन्तु फिर शामिल हो गयी, साथ ही यह भी घोषित कर दिया कि वह संविधान के प्रारूपण में भाग नहीं लेगी। अगस्त में जिन्ना ने पाकिस्तान के निर्माण के लिए 'सीधी कार्रवाई' करने का आह्वान किया। आने वाले महीनों में दोनों सम्प्रदायों के बीच अब तक के सबसे अधिक अपकारी दंगे देखे गए, जो बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रांतों से आरम्भ होकर दिल्ली तक पहुँचे और पंजाब में चरम बिन्दु पर। माऊंटबेटन जिन्हें सत्ता-हस्तांतरण के लिए दिल्ली भेजा गया था, को लगा कि तत्काल कार्रवाई की आवश्यकता है और यह कार्रवाई सिर्फ सियासी हो सकती है। एक ओर माऊंटबेटन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच तथा दूसरी ओर माऊंटबेटन और जिन्ना के बीच विचार-विमर्श ने भारत के विभाजन के लिए योजना की रूपरेखा तैयार कर दी। इसको भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 में शामिल कर लिया गया जिसने दोनों अधिराज्यों के सीमाक्षेत्रों को समायोज्य बताया और सीमा आयोग के निर्णय, बंगाल और पंजाब के विभाजन एवं असम से सिलहट के संबंध-विच्छेद उपरांत पक्की सीमाएँ निर्धारित किए जाने के रूप में परिभाषित किया। इस प्रकार, साम्प्रदायिक विभाजन को अन्ततः राजनीतिक विभाजन और फिर पाकिस्तान के निर्माण की ओर मोड़ दिया गया।

1.3.3 बांग्लादेश

बांग्लादेश पाकिस्तान का हिस्सा था जो कि इस माँग को लेकर बनाया गया था कि मुसलमान एक राष्ट्र हैं; इसी कारण उनके पास एक पृथक् गृहभूमि और अपना खुद का राज्य होना

चाहिए। पाकिस्तान बनने के बाद, बहरहाल, बंगाली लोग विशिष्टता का एक वर्धमान भाव विकसित करने लगे जिसने एक पृथक् राष्ट्रीय समुदाय को विकसित होने से रोका। यह पार्थक्य ही था जो पृथक्तावादी आन्दोलन में चरमसीमा पर पहुँचा जिसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश उसका घटक भाग नहीं रहा।

प्रथम महत्वपूर्ण घटना जो कि पाकिस्तान में बंगाली राष्ट्रवाद के विकास में उल्लेखनीय है, वो है – बंगाली अभिलाषाओं का सम्मान न करते हुए पाकिस्तान की राष्ट्रीय भाषा के रूप में उर्दू को लागू किए जाने हेतु पाकिस्तान की सत्तारूढ़ सरकार का फैसला। बंगालियों ने इसे सांस्कृतिक अपनी संस्कृति में अनुचित हस्तक्षेप का प्रयास माना। जनसमाज के विभिन्न स्तर इस फैसले के विरोध में उतर आये। प्रदर्शनकारी छात्रों को तितर-बितर करने के लिए पुलिस कार्रवाई ने कुछ की जान ही ले ली, जिससे पश्चिमी पाकिस्तान के खिलाफ बंगालियों का गुस्सा भड़क उठा। इस भाषा-आन्दोलन की चिन्गारी प्रथम राष्ट्रवादी भावना को भड़काने में काम आयी और प्रबल पश्चिमी-पाकिस्तान सरकार द्वारा बंगालियों से दण्डस्वरूप किए गए अर्थिक एवं राजनीतिक सलूक से और दृढ़ हो गयी। यह माँग फिर प्रांतीय स्वायत्तता में बदल गयी। कानूनी, रूप से बंगाली जन पाकिस्तान के नागरिक थे परन्तु आर्थिक रूप से पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच संबंध शोषणकारी था। पूर्वी पाकिस्तान की विदेशी मुद्रा आय का रूख पश्चिमी पाकिस्तान की ओर कर दिया गया था ताकि वहाँ की अर्थव्यवस्था विकसित हो, जबकि पूर्वी पाकिस्तान को पिछड़ा ही छोड़ दिया गया था। कुछ मात्रा में औद्योगीकरण हुआ था, मगर उसका लाभ पश्चिमी पाकिस्तान को ही मिलता था क्योंकि मालिक लोग अधिकतर पश्चिमी पाकिस्तान के ही थे। राजनीतिक रूप से, पूर्वी पाकिस्तान पाकिस्तान की राज्य संरचना में अधीनस्थ स्थिति ही रखता था। पश्चिमी पाकिस्तान को केन्द्रीय सरकार की कुर्सी मिलने के बाद मुस्लिम लीग ने पूर्वी पाकिस्तान में बंगाली नेताओं को उठने ही नहीं दिया। और तो और, उसने तत्कालीन बंगाल के गैर-बंगाली नवाबों और मुस्लिम व्यापारियों के मेल के माध्यम से पूर्वी पाकिस्तान के मामलों को हाथ में लेने का प्रयास किया। यह स्थिति और बदतर हो गयी क्योंकि दफ्तरशाही के साथ-साथ सशस्त्र सेनाओं में भी पाकिस्तान के पूर्वी स्कंध की कोई महत्वपूर्ण भागीदारी नहीं थी। परिणामस्वरूप, बंगाली नेतृत्व को शीर्ष निर्णयन् प्राधार में देय भाग से भी काफी कम दिया गया। सरकार, नौकरशाही और सशस्त्र सेनाओं में पश्चिमी पाकिस्तान के अत्यधिक प्रभुत्व ने ही उन्हें पूर्वी पाकिस्तान के साथ चालबाजी करने और उस पर हावी होने की मंजूरी दी।

भाषा-आन्दोलन का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव 1954 के आम चुनावों पर पड़ा, जो सीमित मताधिकार के तहत कराये गए थे। अवामी मुस्लिम लीग जो 1949 में भाषा के नेतृत्व में उभरी थी, अन्य बंगाली पार्टियाँ एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए साथ आ खड़ी हुई। अन्य माँगों के अलावा, उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान के लिए स्वायत्तता और बंगाली को एक राजभाषा के रूप में अपनाये जाने की माँग की। उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान में मुस्लिम लीग को निर्णायक रूप से शिकस्त दी। तथापि, मुस्लिम लीग ने छह माह के ही भीतर संयुक्त मोर्चा सरकार को बर्खास्त कर दिया और राज्यपाल शासन के नाम पर सैनिक शासन लागू कर दिया। 1959 में जनरल अयूब खान के तहत फौजी तानाशाही की स्थापना के साथ ही पूर्वी पाकिस्तान के जन-संघर्ष का पहला दौर समाप्त हो गया।

अयूब खान की फौजी तानाशाही का वस्तुतः उद्देश्य मध्यवर्गी एवं देशज अभिजात वर्ग को सत्ता में आने से रोकना था। व्यापक आधार रखने वाले राजनीतिज्ञों को अयोग्य करार दे दिया गया और औद्योगिक एवं व्यापारशील बुर्जुआ वर्ग समर्थित सेना-नौकरशाही समूह पर सशस्त्र बलों का प्रभुत्व सुनिश्चित कर दिया गया। एक द्रुत ध्रुवीकरण जो इसके बाद हुआ, ने इन दोनों स्कन्धों के बीच बढ़ते राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भेदों के संचित प्रभाव को प्रकट किया। इसे 1966 में, अवामी लीग के नेता, मुर्ज़िबुर्हमान द्वारा घोषित छह-सूत्रीय कार्यक्रम में अभिव्यक्ति मिली। उसकी माँग थी कि सरकार प्रकृति में संघीय और संसदीय हो, उसके सदस्य जनसंख्या

के आधार पर विधायी प्रतिनिधित्व वाले सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जायें; संघीय सरकार के पास केवल विदेशी मामलों एवं रक्षा विषयक मुख्य दायित्व ही हो; प्रत्येक स्कंध की अपनी ही मुद्रा हो और पृथक् वित्तीय खाते भी; कारारोपण प्रांतीय स्तर पर किया जाये; प्रत्येक संघीय इकाई विदेश विनिमय की अपनी निजी आय पर नियंत्रण रखे; और प्रत्येक इकाई अपनी नागरिक सेना और संसदीय शक्तियों को बढ़ा सके। वह वस्तुतः एक संधि की माँग थी। भाषायी राष्ट्रवाद, स्वायत्तता, एक संतुलित आर्थिक विकास और लोकतंत्र के संघर्ष अब विलीन हो चुके थे।

1970 के चुनाव, यानी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रथम आम चुनाव संघर्ष का तीसरा दौर था। आवामी लीग ने न केवल प्रांतीय विधानसभा मतदान में वोट बटोरे, अपितु पूर्वी स्कंध की विशाल जनसंख्या की वजह से राष्ट्रीय विधानसभा में भी उसे बहुमत हासिल करने में सफलता मिली। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्याशित संविधान सभा मुजिब का छह-सूत्रीय कार्यक्रम अपरिहार्य रूप से विधिकृत करती। अतः राष्ट्रीय विधानसभा का संयोजन सत्तारूढ़ सैनिक अभिजात वर्ग ने स्थगित कर दिया और पश्चिमी पाकिस्तान में विपक्ष, यानी जुल्फिकार अली भुट्टो को लेकर एक गठबंधन बना लिया गया। मुजिब ने एक व्यापक सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया, इस उम्मीद से कि याहया खान से समझौता हो जायेगा, परन्तु पाकिस्तानी शासक वर्ग ने आत्म-समर्पण में बंगालियों को डराने-धमकाने हेतु अभिप्रेत सैनिक आक्रमण के लिए तैयार होने का समय निकालने के लिए समझौतों का प्रयोग किया।

जब 25 मार्च को बंगाली राष्ट्रवादियों पर सैनिक आक्रमण शुरू हो गया तो सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन सशस्त्र संघर्ष में बदल गया। उत्पीड़न, बलात्कार एवं बुद्धिजीवियों की हत्या के साथ हुई बर्बर सैन्य कार्रवाई ने बांग्लादेश की अवाम में पाकिस्तानी राष्ट्रियता का नामोनिशान मिटा दिया। भारी संख्या में असैनिक हताहतों ने बंगाली लोगों के भारत की ओर अभूतपूर्व प्रवसन की ओर प्रवृत्त किया। जो कि न्यायसंगत रूप से पाकिस्तान का एक आन्तरिक मामला होना चाहिए था, तदनुसार भारत के लिए प्रमुख समस्या बन गया। भारत ने स्वतंत्रता सेनानियों को आश्रय स्थल और प्रशिक्षण सुविधाएँ मुहैया कराई। इसके अलावा, उसने एक व्यापक कूटनीतिक आक्रमणकारी रवैया अपना लिया ताकि बांग्लादेश में नरसंहार और उसका मुक्ति संघर्ष दुनिया की नज़र में आये। आखिरकार, पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर को भारत पर युद्ध थोपकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली। यह सशस्त्र संघर्ष 16 दिसम्बर 1971 को समाप्त हुआ जब पाकिस्तानी फौज ने ढाका में बांग्लादेश मुक्ति सेना और भारतीय सेना की संयुक्त कमान के समक्ष घुटने टेक दिए। बांग्लादेश एक संप्रभु स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरा।

1.3.4 श्रीलंका

श्रीलंका, जिसको पहले 'सीलोन' नाम से जाना जाता था, के राजनीतिक इतिहास का संबंध तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से जोड़ा जा सकता है। शुरुआती वर्षों में यह द्वीप छोटी-छोटी रियासतों में बँटा था। रोहण के एक राजकुमार, दत्तागामिनी ने इस द्वीप को एक करने का प्रयास किया परन्तु सम्पूर्ण एकीकरण लम्बे समय तक दूर की आशा ही रहा। तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से ही शुरुआत करने पर, श्रीलंका ने दक्षिण भारत से समय-समय होने वाले आक्रमणों को झेला और ग्यारहवीं शती ईसापूर्व में उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र चोल राज्य का एक प्रांत बन गया। 12वीं शताब्दी में सिंहल राजा पराक्रमबाहु प्रथम ने सारे देश को एक कर दिया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद, देश गड़बड़ी और अव्यवस्था में डूब गया जिसने दक्षिण भारत से आने वाले आक्रमणकारियों का ध्यान अपनी ओर खींचा। इन्हीं आक्रमणों के कारण ही इस द्वीप के उत्तर में जाफना प्रायद्वीप में एक तमिल राज्य निर्माण का उत्कर्ष हुआ। जब 16वीं शती-अंत में पुर्तगाली यहाँ आये तो श्रीलंका तीन स्वतंत्र राज्यों में बँट गया : दो सिंहली – एक कोट पर बसा जिसका नियंत्रण दक्षिणी और पूर्वी द्वीप पर था, और दूसरा कैण्डी पर बसा जिसका शासन केन्द्रीय पहाड़ी प्रदेशों पर था; तथा तीसरा तमिल राज्य था जिसका नियंत्रण उत्तर और पूर्व पर था। इसने उन्हें

पर्याप्त अवसर दिए कि श्रीलंका की राजनीति में हस्तक्षेप करें और तटीय क्षेत्र में अपने उपनिवेश बनायें। 17वीं शताब्दी में उनके स्थान पर डच अर्थात् हॉलैण्डवासी आ गये जिनका सिंहलियों ने साथ दिया। डच लोगों ने तटीय श्रीलंका पर एक सौ वर्षों से भी अधिक राज किया जिस दौरान काफी अभ्यंतर भाग कैण्डीयन राजाओं के अधीन स्वतंत्र ही रहा। 1796 में डच लोगों के स्थान पर अंग्रेज आ गए। 1802 में उन्होंने पृथक् तमिल राज्य को समाप्त कर उसे एक 'ताज उपनिवेश' बना दिया। 1815 में कैण्डीयन राज्य के भीतर आंतरिक झगड़ों का लाभ उठाकर अंग्रेज नयक्कर वंश को उखाड़ फेंकने में सफल रहे। उन्होंने कैण्डीवासियों को उनके विशेषाधिकारों व अधिकारों तथा प्रथागत कानूनों, संस्थाओं व धर्म की रक्षा किए जाने का आश्वासन दिया। हालाँकि कैण्डी अलग से प्रशासित था, उसके अभिजातों व भिक्खुओं का दर्जा घटाने की प्रवृत्ति असंदिग्ध थी; इसने 1818 में ब्रिटिश नियंत्रण के खिलाफ एक जन-विद्रोह की ओर प्रवृत्त किया। यह महाविद्रोह कुचल दिया गया और कैण्डीयन प्रांत बाकी देश के साथ मिला दिया गया।

सम्पूर्ण श्रीलंका के प्रभावशाली शासक बन ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने तुरंत ही एक सुधार प्रक्रिया आरंभ कर दी। उन्होंने न्यायिक प्राधिकरण के देशज पदाधिकारियों को काम से छुट्टी दे दी, वेतन नकद भुगतान किए और 'राजकार्य' नामक अनिवार्य श्रम वाली परम्परागत व्यवस्था में ढील दे दी। भूमि के यूरोपीय स्वामित्व पर प्रतिबंध भी उठा लिए गए। कृषि को प्रोत्साहन दिया गया। कोलंबूक कैमरन आयोग ने न्याय घोषणा-पत्र, 1833 के माध्यम से इन शुरुआती परिवर्तनों को सुव्यवस्थित किया। अंग्रेजों ने पूरे द्वीप के लिए एक एकात्मक प्रशासनिक एवं न्यायिक प्रणाली अपनायी। उन्होंने गवर्नर की निरंकुश शक्तियाँ कम कर दीं और सरकार के काम में अधिकार प्रयोग में साझेदारी निभाने के लिए कार्यकारी एवं विधायी परिषदें स्थापित कर दीं। अंग्रेजी को राजकाज की भाषा तथा स्कूलों में शिक्षण का माध्यम बना दिया गया।

आर्थिक क्षेत्र में, अंग्रेजों ने सभी राज्य एकाधिकारों को समाप्त कर दिया, 'राजकार्य' प्रणाली को खत्म कर दिया, और मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने 'ताज' अधीकृत भूमि को सस्ते में बेचकर बागान खेती को बढ़ावा दिया। परिणामतः, दालचीनी, कालीमिर्च, गन्ना, कपास और कॉफी का उत्पादन फला-फूला। कॉफी बागानों में काम करने वाले श्रमिक मुख्य रूप से आप्रवासी भारतीय ही थे। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, चाय, रबड़ व नारियल बागान जैसी व्यापारिक फसलें श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण की उत्प्रेरक बन गईं।

यह बात, बहरहाल, ध्यान देने योग्य है कि पूँजीवादी उद्यम शहरी क्षेत्रों और बागान के तहत आने वाले क्षेत्रों तक ही सीमित था। बाकी देश परम्परागत तरीकों को इस्तेमाल करता भरण-पोषण कृषि के अधीन ही बना रहा, हालाँकि गाँवों का पार्थक्य सड़कों एवं रेलमार्गों के माध्यम से कुछ कम हो गया था।

श्रीलंका में राष्ट्रीय चेतना और आधुनिक राष्ट्रवाद का उद्गम धार्मिक पुनर्जागरणवाद में तलाशा जा सकता है, जो कि ईसाई धर्म-प्रचार उद्यम के प्रति एक परिवर्तन विरोध ही था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बौद्धधर्म और हिन्दू धर्म में पुनर्जागरणवादी आन्दोलनों ने अपनी संस्थाओं को आधुनिकीकृत करने और ईसाइयत से असंकरित पाश्चात्य शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूल स्थापित कर ईसाइयत के खिलाफ अपनी रक्षा करने का प्रयास किया। यह चेतना धीरे-धीरे राजनीति के रणक्षेत्र में छा गयी। अनेक क्षेत्रीय एवं साम्प्रदायिक संस्थाओं ने, जो देश के शैक्षिक रूप से उन्नत भागों में सामने आयीं, औपनिवेशिक संविधान के भीतर राजनीतिक सुधारों की माँग शुरू कर दी। उन्होंने कार्यकारी शाखा में श्रीलंकाई भागीदारी, विधायिका में अधिक व्यापक प्रतिनिधित्व, और नामांकन के स्थान पर चयनात्मक सिद्धांत अपनाये जाने की बात की। औपनिवेशिक शासन ने इस माँगों को ठुकरा दिया क्योंकि ये समन्वित अथवा दमदार आवाज़ वाली नहीं थीं। 1910 के संवैधानिक सुधारों ने पुरानी संरचना को बरकरार रखा, जिसमें एक नियुक्त अधिशासी और एक नियुक्त बहुमत वाली विधायी शाखा होती थी। इस चयनात्मक सिद्धांत को 'शिक्षित श्रीलंकाई' नामक निर्वाचक दल बनाकर एक हद तक मान्यता

दे दी गई ताकि वे विधान परिषद् हेतु एक सदस्य चुन सकें। अन्य श्रीलंकाई सदस्य सांप्रदायिक आधार पर नामज़द किए जाने थे।

राष्ट्रवादी ताकतों को प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान गति मिली। राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना के विकास में राजनीतिक दमन से मदद मिली, जो कि 1915 में जन-उपद्रवों के चलते किया गया था। उस समय एक छोटे से साम्प्रदायिक दंगे के दौरान जब अंग्रेजों ने प्रमुख सिंहली नेताओं को गिरफ्तार किया तो सभी समुदायों के नेता इस कार्रवाई के विरोध में उठ खड़े हुए। यह इस द्वीप पर सबसे पहला राजनीतिक आन्दोलन बन गया। अपने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को ज़ाहिर करने के लिए एक आम मंच की आवश्यकता महसूस करते हुए, 1919 में सिंहली और तमिल संगठन राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के लिए एकजुट हो गए। कांग्रेस के बजट पर नियंत्रण, विधानमण्डल में निर्वाचित बहुमत और कार्यकारी शाखा के व्यवहार्य नियंत्रण की माँग की।

ब्रिटिश सरकार जो प्रथम विश्व-युद्ध पश्चात् विश्व-व्यापार वृद्धि में गिरावट, खाद्य पदार्थों समेत आयातित वस्तुओं की कीमतों में उछाल और कामगार वर्ग की बढ़ी हलचल की वजह से पहले ही दबाव में थी, ने 1920 में एक नए संविधान की घोषणा कर दी। इसमें विधानमण्डल में एक निर्वाचित बहुमत, क्षेत्रीय रूप से चुने हुए सदस्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी और साम्प्रदायिक प्रतिनिधियों के चुनाव हेतु व्यवस्था दी गई थी। इस प्रकार, श्रीलंका में एक प्रतिनिधि सरकार अस्तित्व में आ गई। कार्यपालिका, तथापि, गवर्नर और औपचारिक कार्यकारी परिषद् के अधीन ही रही।

इन सुधारों के बाद सिंहली और तमिल हित-सामंजस्य में रुकावट आ गयी। यद्यपि सिंहली नेता चाहते थे कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व समाप्त हो और क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व सर्वव्यापी बने, अल्पसंख्यकों की इच्छा थी कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व कायम रहे ताकि उनके सम्प्रदायों हेतु सत्ता सुरक्षित रहे। इस प्रसंग में, तमिलों ने अपने आप को अल्पसंख्यक समुदाय मानना शुरू कर दिया। सिंहलियों और तमिलों के बीच अनबन और परस्पर अविश्वास बढ़ने के साथ ही अल्पसंख्यक वर्ग कांग्रेस से टूटकर अलग हो गए ताकि अपने खुद के संगठन बना सकें।

1931 में बनाए गए एक नए संविधान ने श्रीलंकाई नेताओं को अवसर प्रदान किए कि वे राजनीतिक सत्ता का प्रयोग कर सकें और संभावित स्व-शासन लाने की दृष्टि से प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर सकें। इसने एक राज्य परिषद् की व्यवस्था दी जिसमें विधायी और कार्यकारी प्रकार्यों को सम्मिलित किया गया था। क्षेत्रीय रूप से एक निर्वाचित सदस्यों के अत्यधिक बहुमत वाली विधान परिषद् होने के अलावा, राज्य परिषद् अधिशासी कार्य हेतु सात समितियों में बाँटा गया था (प्रत्येक का प्रमुख एक मंत्री अथवा अध्यक्ष होता था)। इस संविधान का शायद सबसे महत्वपूर्ण अभिलक्षण यह था कि सार्वभौमिक मताधिकार प्रदान कर यह राजनीतिक प्रक्रिया में सभी श्रीलंकाइयों को ले आया।

भारत में वर्धमान राष्ट्रीय आन्दोलन और वयस्क मताधिकार शुरू किए जाने से श्रीलंका में राष्ट्रीय आन्दोलन तेज हो गया। समाज-कल्याण हेतु आन्दोलनों में वृद्धि हुई। कामगार वर्ग आन्दोलन को मार्क्सवादी राजनीतिक दल की स्थापना से प्रेरणा मिली। सार्वभौमिक मताधिकार की शुरुआत ने भी धार्मिक राष्ट्रवाद के पुनर्प्रकोप की ओर प्रवृत्त किया, यथा बौद्ध पुनरुत्थान एवं उससे संबद्ध सांस्कृतिक विरासत से राष्ट्रवाद बाँटा। इस बात की अभिव्यक्ति एस.डब्ल्यू.आर. डी. भण्डारनायके द्वारा उसकी 'सिंहला महासभा' के माध्यम से दी गई। द्वितीय राज्य परिषद् (1936-47) के दौरान इस सार्वभौमिक मताधिकार ने संविधानवादी नेताओं पर भी दबाव डाला कि वे राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान संबंधी सामाजिक व आर्थिक पहलुओं की दिशा में अधिक सक्रिय हों, खासकर स्वास्थ्य, शिक्षा एवं खाद्य परिधानों के क्षेत्र में।

उग्र आन्दोलनों के जवाब में, ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक समस्याओं पर सूक्ष्म दृष्टि डालने के लिए 1944 में सोलबरी आयोग गठित किया। इस आयोग ने आंतरिक स्वदेशी शासन की सिफारिश की, जिसके अधिकार क्षेत्र में ब्रिटिश नियंत्रण के अन्तर्गत ही रक्षा एवं विदेश मामले

हों। श्रीलंकाई उग्रपंथी तत्त्वों ने तथापि, सम्पूर्ण आज़ादी पर ज़ोर दिया। इसी बीच भारतीय की स्वतंत्रता का सपना साकार हुआ। इस नई स्थिति के प्रसंग में ग्रेट ब्रिटेन पर दबाव डाला गया कि वह 1974 में कराये गए आम चुनावों में नए संविधान के प्रावधानों के अनुसार चुने गए जन-प्रतिनिधियों को 4 फरवरी 1948 को सम्पूर्ण सत्ता हस्तांतरित कर दे।

श्रीलंका में सत्ता-हस्तांतरण सहज और शांतिपूर्ण रहा, जो कि देश के राष्ट्रीय आंदोलन में प्रबल सूत्र के एक संतुलित स्वर की अभिव्यक्ति था। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय न कोई कड़वाहट थी, न ही दरार, जैसा कि भारत के मामले में था। इसने समग्र प्रक्रिया को निस्संदेह सौम्य बना दिया था। स्वतंत्रता ऊपर से प्रदान की गई थी और इसमें राष्ट्रवाद की सक्रिय चेतना का अभाव था।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) भारत में अतिवादी नेताओं द्वारा अपनाए गए राजनीतिक सिद्धांत एवं पद्धतियों की चर्चा करें।

.....
.....
.....

2) पूर्वी पाकिस्तान में बंगालियों की मुख्य शिकायतें क्या थीं?

.....
.....
.....
.....

3) सिंहलियों तथा तमिलों के बीच मतभेद कब और किस मुद्दे को लेकर पैदा हुए?

.....
.....
.....
.....

1.3.5 नेपाल

अपने प्रारंभिक इतिहास में नेपाल अनेक स्वतंत्र रियासतों में बँटा रहा। 18वीं शती-मध्य में पृथ्वीनारायण शाह, गुरखा रियासत का मुखिया, ने समग्र नेपाल को एकीकृत किया और शाहवंश चलाया। नेपाल की वर्तमान सीमाएँ 1814 में ब्रिटिश शासकों के साथ युद्ध के बाद ही अस्तित्व में आयीं। नेपाल ने ब्रिटिश भारत को काफी मात्रा में राज्यक्षेत्र गँवाया, परन्तु उसने अपनी संप्रभुता संबंधी ब्रिटिश मान्यता हासिल की। यह सत्य है कि नेपाल पर अंग्रेजों द्वारा कभी कब्जा नहीं किया गया, परन्तु वह अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता की अधिकार-माँग करने की स्थिति में भी विरला ही रहा। जब भारत आज़ाद हो गया तो नेपाल ने भी अपनी स्वतंत्र स्थिति घोषित कर

दी।

चूँकि पृथ्वीनारायण के बाद उसके उत्तराधिकारी अल्पायु ही रहे, प्रधानमंत्रियों ने असीम राजनीतिक सत्ता का प्रयोग आरम्भ कर दिया। इसके परिणाम हुए – दुरभिसन्धियाँ, कपटसन्धियाँ, वध-प्रतिवध तथा अस्थिरता। यह स्थिति 19वीं शती-मध्य तक जारी रही जब जंग बहादुर राणा ने सभी प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया और राजा को नाममात्र का मुखिया बना दिया। शाह शासक, जो कि राजमहल की चारदीवारी में समाज से कटा रहता था, को एक संसद (शाही आदेश) जारी करने के लिए कहा गया, जिसमें जंग बहादुर को नागरिक एवं सैन्य प्रशासन तथा विदेश संबंधों में परम सत्ता सौंप दी जानी थी।

यह संसद जिसने अनन्त काल के लिए राणाओं को प्रधानमंत्री का पद सौंप दिया था, उसने देश में राणा परिवार के शासन हेतु कानूनी आधार भी प्रदान किया।

चूँकि राणा प्रधानमंत्रियों की सत्ता राजा एवं उसके कल्पित अवतार द्वारा उत्तरदायित्वों के परित्याग पर आधारित, अन्ततोगत्वा विधि विरुद्ध ही थी, राणा शासन स्वेच्छाचारी और परिवर्तन-विरोधी हो गया ताकि अपने प्राधिकार के प्रति किसी भी चुनौती से बचा जा सके। इस प्रक्रिया में वे नेपाल को उन अनेक परिवर्तनों से महरूम रखने में सफल रहे जो कि पूरी दुनिया में, यहाँ तक कि पड़ोसी देश भारत में भी, हो रहे थे।

नेपाल, बहरहाल, पूर्ण पार्थक्य में नहीं रहा। भारत में सुधार आन्दोलनों और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्वावधान में राष्ट्रीय आन्दोलन ने मध्यवर्गों को गहरे प्रभावित किया। शिक्षित वर्गों की आधुनिकतावादी आकांक्षाओं का राणा शासन द्वारा दमन किए जाने से एक राणा-विरोधी आन्दोलन का जन्म हुआ। नेपाली निर्वासितों तथा वे जो शिक्षार्थ भारत आये थे, संस्थाएँ खड़ी कर लीं, जिनका उद्देश्य था – नेपाल में एक जन-आन्दोलन को जन्म देना और राणातंत्र के स्थान पर एक लोकतांत्रिक व्यवस्था लाना। 1930वें दशक में भारत में रहने वाले निर्वासित नेपाली लोगों द्वारा बनाए गए कुछ संगठन, जैसे नेपाली नागरिक अधिकार समिति, प्रचण्ड गोरखा, प्रजा परिषद्, आदि ने माँग की कि नेपाल में तत्काल राजनीतिक सुधार हों और राणा शासन का अन्त हो। इसने नेपाल में आंतरिक उपद्रवों को जन्म दिया। नेपाल में ये घटनाएँ इस उपमहाद्वीप से अंग्रेजों के वापस जाने की तैयारियों के साथ ही घटीं। उल्लेखनीय है कि राणा तंत्र को भारत में उन ब्रिटिश शासकों द्वारा समर्थन और सातत्य प्राप्त था जो राणाओं में एक कार्यकर और चापलूस सखा की झलक पाते थे। देश के भीतर का माहौल राणाओं के पक्ष में नहीं था। स्पष्ट कारणों से राजा राणा-विरोधी ताकतों से जा मिला था। इसके अतिरिक्त, राणाओं में स्वयं आंतरिक विरोध जन्म ले चुके थे जिनकी वजह थी – परिवार में विस्तारित और अव्यवस्थित वंश की विभिन्न श्रेणियाँ। तदनुसार, पारिवारिक पदानुक्रम और वंश की निम्न पदस्थिति वाले (कम शुद्ध विवाह-संबंध से जन्मे) अनेक राणाजन या तो सीधे-सीधे राणा-विरोधी आन्दोलन में ही शामिल हो गए या फिर अप्रत्यक्ष रूप से शासक गुट का विरोध करने लगे क्योंकि उक्त पतित प्रणाली में उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं रही थी। राणा शासकों में इस बात को लेकर भी विचारधारा और कार्यप्रणाली संबंधी तीखे मतभेद थे कि परिवर्तन-समर्थक ताकतों से किस तरह पेश आया जाये। ऐसी परिस्थितियों में, तत्कालीन राणा प्रधानमंत्री पद्म शमशेर ने लोकतांत्रिक आन्दोलन के नेताओं के साथ समझौता करने की बात सोची। प्रवृत्ति में इस परिवर्तन ने नेपाल में राजनीतिक सुधारों और संवैधानिक विकास आदि के लिए एक राह गढ़ी।

1948 में राणा मोहन शमशेर ने नेपाल के प्रथम लिखित संविधान की घोषणा की। इसमें आम जनता को मौलिक अधिकार दिए गए थे और राणाओं की पारम्परिक शक्तियों को छोड़े बगैर परम्परागत पंचायत व्यवस्था को फिर से जीवित किया गया था। जब राणा प्रधानमंत्री ने नेपाली राष्ट्रीय कांग्रेस को कानूनी आश्रय से वंचित कर दिया और नए संविधान को लागू करने में कोई रुचि नहीं दिखाई तो अगस्त 1948 में कलकत्ता में नेपाल लोकतांत्रिक कांग्रेस का गठन करने के लिए राणा-विरोधी ताकतें एकजुट हो गयीं। इस दल ने किसी भी तरीके से राणाओं को मिटा

डालने की सिफारिश की, बेशक सशस्त्र विद्रोह ही करना पड़े। उसने जनवरी 1949 और जनवरी 1950 में सैन्य राज्य-विप्लवों को भड़काने का प्रयास भी किया परन्तु असफल रहा। अक्टूबर 1948 में जब राणा सरकार ने बी. पी. कोइराला व अन्य संगठनकर्त्ताओं को बन्दी बना लिया और शासन-विरोधियों को कठिन परिस्थितियों में रखा व जेल में घोर यंत्रणा भी दी, तो उसके लोकतांत्रिक विरोधी एक बार फिर उसके खिलाफ हो गए।

राष्ट्रवादियों का सवेरा 1950 में हुआ जब राजा त्रिभुवन ने सपरिवार भारत में शरण माँगी। नेपाली कांग्रेस के झण्डे तले तब एकजुट अनेक राणा-विरोधी संगठनों ने राणा शासन के खिलाफ एक सशस्त्र संघर्ष छेड़ दिया। जब उसकी सेनाओं ने राणाओं से छीनकर तराई के काफी हिस्से पर कब्जा कर लिया तो नेपाली कांग्रेस ने वीरगंज के सीमा नगर में एक अंतरिम सरकार कायम कर दी। ऐसी स्थिति में भारत ने, जिसने नेपाल में राणा शासन को हाल ही में मान्यता दी थी और 1950 में शांति और मित्रता संधि को समाप्त कर दिया था, कोई सौहार्दपूर्ण हल निकालने के लिए हस्तक्षेप करने का फैसला कर लिया। इस संकटपूर्ण स्थिति में भारत ने नेपाली राजनीति के तीन खण्डों के बीच मध्यस्थता की – राणाजन, जन-प्रिय नेतागण तथा राजा अर्थात् नेपाल नरेश, ताकि कोई निबटारा हो सके। भारत का नज़रिया यह था कि नेपाल कोई बीच का रास्ता अपनाये जिसमें पारम्परिक अभिजात वर्ग की रक्षा हो और साथ ही लोकतंत्र की दिशा में कुछ प्रगति की जाये। फरवरी 1951 में नई दिल्ली में सम्पन्न समझौते में राणाओं व नेपाली कांग्रेस की एक गठबंधन सरकार की परिकल्पना की गई, साथ ही लोकतंत्र की प्रतिष्ठा और सत्ता को फिर से कायम करने की भी। पाँच राणाओं तथा नेपाली कांग्रेस पार्टी के पाँच ही सदस्यों को लेकर मोहन शमशेर के नेतृत्व में एक अंतरिम मंत्रालय को काठमाण्डू से नरेश के लौटने पर उक्त माह ही शपथ दिला दी गई। नरेश ने एक 'लाल मोहर' जारी की, तदनुसार राणा परिवार के सभी परंपरागत अधिकार और विशेषाधिकार वापस ले लिए गए। इस प्रकार, एक ऐसी शासन प्रणाली जो कि 104 वर्षों तक चली, 104 दिनों में ही ढेर हो गयी।

1.3.6 भूटान

17वीं शताब्दी तक भूटान अनेक छोटी-छोटी रियासतों में बँटा रहा। पूर्वी भूटान में एक तिब्बती राजकुमार जो नौवीं शताब्दी ईस्वी में अन्यत्र जा बसा, के वंशजों द्वारा एक शासक-गृह की स्थापना की गई। पश्चिमी भूभाग अनेक जागीरों में बँटा था, जिनका नियंत्रण विभिन्न बौद्ध मठवासीय घरानों के हाथ में होता था। राजकुमार अबोत-शाब्दुंग नवांग नांग्याल भूटान में 1616 में एक शरणार्थी के रूप में आया। बौद्धधर्म संबंधी उसके घराने से संबंधित विद्यमान मठों की मदद से उसने भूटान को एकीकृत करने के लिए संघर्ष शुरू कर दिया। इस संघर्ष में शाब्दुंग ने प्रतिद्वंद्वी घरानों को हरा दिया, और साथ ही तिब्बत की ओर से बार-बार आने वाले आक्रमणकारियों को पीछे खदेड़ दिया और देश को एक कर दिया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद भूटान में फिर हलचल शुरू हो गई। इस हलचल से उभरे उज़ेन वांग्चुक जिन्होंने 1907 में भूटान में व्यवस्था और शांति बहाल की और वर्तमान परम्परागत शासक-गृह स्थापित किया।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब ब्रिटेन द्वारा बंगाल प्रेसीडेन्सी की स्थापना की गई तो उसकी सीमाएँ भूटान राज्यक्षेत्र को छूती थीं। इससे अंग्रेजों और भूटानियों के बीच आये दिन झड़पें होने लगीं। इसने अन्ततोगत्वा 1864-65 में बड़े पैमाने पर आंग्ल-भूटानी युद्ध की ओर प्रवृत्त किया जिसने सीमा निर्धारित कर दी। इसके बाद, चीन और तिब्बत की कीमत पर भूटान में ब्रिटिश प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ गया। 1910 में, चीनी विरोध के बावजूद, उज़ेन वांग्चुक ने भारत के अंग्रेज शासकों के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किए जिसमें वह "अपने विदेश मामलों के संबंध में अंग्रेज सरकार की सलाह पर चलने होने के लिए सहमत हो गया"। बदले में, अंग्रेज सरकार ने भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

अगले ही वर्ष भूटान नरेश ने प्रसिद्ध 'दिल्ली दरबार' में शिरकत की और उसने इस तथ्य को

जाना और स्वीकार किया कि दरबार में भाग लेने का हक सामन्ती मुखियाओं के सिवाय किसी का नहीं था। अंग्रेजों ने, बहरहाल, भूटान को कोई भारतीय राज्य नहीं माना और उन नीतियों को नहीं अपनाया जो सामान्यतया देशी राजाओं पर लागू होती थीं, जैसे – उत्तराधिकार को मान्यता देना और नियमित करना, राज्य पर खतरा अथवा व्यापक अराजकता होने की स्थिति में हस्तक्षेप करना।

जब भारत स्वतंत्रता के द्वार पर था तो भूटानी सरकार को भय हुआ कि कहीं नई भारतीय सरकार भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न शुरू कर दे और एक प्रति-संतुलन के रूप में लंदन में ब्रिटिश सरकार के साथ कुछ संबंध बनाने चाहे। तथापि, जब भूटानी शिष्टमण्डल नई भारतीय सरकार के साथ एक गतिरोध संधि पर हस्ताक्षर करने नई दिल्ली आया तो वह नई भारतीय शासन-व्यवस्था की निष्कपटता से काफी प्रभावित हुआ। भूटान सरकार और सिक्किम स्थित राजनीतिक अधिकारी ने अगस्त 1949 में दार्जिलिंग में भारत-भूटान संधि, 1949 पर हस्ताक्षर किए। इस संधि में स्पष्ट तौर पर कहा गया कि भूटान एक संप्रभु सत्ता है। भारत ने भूटान के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप न करने का फैसला किया जबकि भूटान अपने विदेश संबंधों में भारत की सलाह पर चलने के लिए राजी हो गया। संधि लागू करने में विवाद उठने की स्थिति में भारत के संघीय उच्च न्यायालय जजों के बीच एक भारतीय, एक भूटानी प्रतिनिधि और भूटान द्वारा नामांकित किए जाने वाले अध्यक्ष के साथ मध्यस्थता नियम-संग्रह की भी परिकल्पना की गई। इन समझौता-शर्तों में दोनों ही संविदाकारी पक्षों की संतुष्टि के लिए काम किया गया है।

1.3.7 मालदीव

मालदीव का प्रारंभिक इतिहास अज्ञात है। यहाँ के आदि उपनिवेशक संभवतः दक्षिणी भारत से आये। उनके बाद भारतीय-यूरोपीय भाषाएँ बोलने वाले यहाँ चौथी और पाँचवीं शती ईसापूर्व में श्रीलंका से आये। 12वीं शताब्दी ईस्वी में पूर्वी अफ्रीका और अरब देशों से नाविक इस द्वीपसमूह पर आये। मालदीवी नृजातीय पहचान इसी कारण इन संस्कृतियों का एक मिश्रण है जिसको धर्म और भाषा से मज़बूती मिली।

मूल रूप से बौद्ध मालदीवी जन 12वीं शती-मध्य में सुन्नी इस्लाम में धर्मान्तरित हो गए। तभी से मालदीव का शासन अपने इतिहास के अधिकांश भाग इस्लामी सल्तनत के रूप में ही रहा है। यह तटीय भारत में कन्नानौर के राजा की सामन्तिक अधीनता के अन्तर्गत आता था। अपने इतिहास में पहली बार मालदीव विदेशी सत्ता के सीधे नियंत्रण में तब आया जब 1553 में उत्तरी द्वीपों पर पुर्तगालियों ने कब्ज़ा कर लिया। 15 वर्षों के भीतर ही पुर्तगालियों को योद्धा-देशभक्त, मोहम्मद बोदू ताकुरु कि नेतृत्व में जनता द्वारा खदेड़ दिया गया। सुल्तान ने तत्पश्चात् पुर्तगाल के साथ एक संधि कर ली जिसने उनकी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया और श्रीलंका में पुर्तगालियों को एक तयशुदा सालाना नज़राना भेजे जाने पर दबाव डाला।

जब हॉलैण्डवासियों और फिर ब्रिटेनवासियों ने श्रीलंका पर अपनी पकड़ मज़बूत कर ली तो मालदीव के सुल्तान ने वहाँ यूरोपीय गवर्नरों को उक्त वार्षिक भेंट भेजे जाने की प्रथा जारी रखी, जो कि 20वीं शती के पूर्वार्ध तक चलती रही। यूरोपवासियों ने मालदीव की स्थानीय सरकार आंतरिक मामलों को अपने हाल पर छोड़ दिया।

द्वीप समूह के सामरिक महत्त्व को जानने के साथ-साथ ब्रिटिश जनता द्वारा किए जाने वाले कारोबार को बचाने के लिए भी, 1887 में श्रीलंका के गवर्नर ने सुल्तान के साथ एक करार पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के मार्फत ग्रेट ब्रिटेन ने मालदीव को अपने संरक्षित राज्य की मान्यता दे दी। समझौते की शर्तों के अनुसार, सुल्तान की मान्यता प्रदान करने और यथाविधि अधिकार देने और देश के रक्षा व विदेश संबंधों का नियंत्रण ग्रेट ब्रिटेन के न्यायगत थे। बदले में, द्वीपवासियों को आंतरिक मामले निबटाने की आज़ादी दे दी गई थी।

मालदीव एक के बाद एक सुल्तान के अधीन रहता आया। 1932 तक सुल्तान वंशागत रहे फिर सल्तनत को चयनात्मक बनाने का प्रयास किया गया, जिससे सुल्तान की निरंकुश शक्तियों की सीमा में बाँधा जा सके। मालदीव 1953 तक एक ब्रिटिश-ताज संरक्षित राज्य रहा, जब सल्तनत को बर्खास्त कर दिया गया और मुहम्मद अमीन दीदी की अध्यक्षता में प्रथम गणतंत्र की घोषणा कर दी गई। सल्तनत को बहरहाल अगले ही वर्ष बहाल कर दिया गया। तभी से मालदीव में राजनीतिक घटनाचक्र पर इस द्वीपसमूह में ब्रिटिश सैन्य उपस्थिति का प्रभाव रहा है।

1956 में ब्रिटेन ने गन द्वीपसमूह पर अपना युद्धकाल हवाई क्षेत्र और हिताद्व द्वीपसमूह पर एक रेडियो स्टेशन पुनर्स्थापित करने की इजाजत ले ली। मालदीव ने अंग्रेजों को गन 100 वर्ष के पट्टे पर दे दिया जिसके लिए उन्हें प्रतिवर्ष 2000 पौण्ड दिए जाने थे। इससे पहले कि यह करार मंजूर होता, नए प्रधानमंत्री इब्राहिम नसीर ने पट्टे की अवधि घटाये जाने और वार्षिक भुगतान बढ़ाये जाने के पक्ष में समझौते पर पुनर्विचार किए जाने का आह्वान किया। परन्तु 1959 में नसीर को दक्षिणी प्रवाल द्वीपों में एक स्थानीय पृथक्तावादी आन्दोलन द्वारा चुनौती पेश की गई, जिनको कि गन पर ब्रिटिश विद्यमानता से आर्थिक लाभ पहुँचता था। उसने ब्रिटेन को तीस वर्ष की अवधि के लिए गन व हिताद्व दोनों ही सुविधाएँ प्रयोग करते रहने की इजाजत दी दी, जिसके बदले में मालदीव के आर्थिक विकास के उद्देश्य से 1960 से 1965 की अवधि तक साढ़े सात लाख पौण्ड का भुगतान किया जाना था।

26 जुलाई 1965 को मालदीव ने ब्रिटेन के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर कर आज़ादी हासिल कर ली। ब्रिटिश सरकार ने गन और हिताद्व सुविधाओं का प्रयोग जारी रखा। मार्च 1968 में एक राष्ट्रीय जनमत-संग्रह द्वारा सल्तनत समाप्त कर दी गई। इसी वर्ष नवम्बर में इब्राहिम नसीर की अध्यक्षता में मालदीव एक गणतंत्र बन गया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) नेपाल में राणातंत्र के खत्म हो जाने में किन कारकों का योगदान रहा?

.....

.....

.....

2) को आधुनिक भूटान का संस्थापक माना जाता है।

3) मालदीव ने आज़ादी दिनांक को पायी।

1.4 सारांश

जैसा कि उपर्युक्त से स्पष्ट है, दक्षिण एशियाई क्षेत्र में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता हेतु संघर्ष पश्चिमी राष्ट्रों के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रत्यक्ष परिणाम थे। इस दिशा में भारत सबसे आगे चला, जिसने न केवल साठ से भी अधिक वर्षों तक की कालावधि तक छाये रहे सबसे शक्तिशाली मुक्ति आन्दोलन का नेतृत्व किया अपितु इस भूभाग के अन्य देशों को भी सीधे या परोक्ष रूप से प्रभावित किया।

यद्यपि स्वतंत्रतार्थ संघर्ष साम्राज्य-विरोधी था, फिर भी लोगों के बीच आदि राष्ट्रीय निष्ठाएँ – धार्मिक, नृजातीय अथवा अन्य बातों में एक अवरोध ही सिद्ध हुई, न कि राष्ट्रीय चेतना अथवा

राष्ट्रीय एकता में कोई योगदान। सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देकर राष्ट्रवादियों के विरुद्ध इसको साम्राज्यवादी आकाओं द्वारा इसको शीघ्र ही सुलभ बना दिया गया। असली नतीजा रहा – भारत का विभाजन और पाकिस्तान का बनना। सम्प्रदायवाद, भारत का परिणामी विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण राष्ट्रीय आन्दोलन की जटिलताओं की अपवृद्धि थे। मूलतः सम्प्रदायवाद उन विभिन्न आस्थाओं से संबंधित निहित स्वार्थों के बीच संघर्ष की छद्म अभिव्यक्ति था, जिन्होंने उस संघर्ष को एक साम्प्रदायिक रूप दे दिया था। साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई धार्मिक मुद्दा नहीं था। यह विभिन्न धर्मों से संबंध रखने वाले व्यवसायी वर्गों के विभिन्न हिस्सों के बीच संघर्ष का सवाल था।

पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच सांस्कृतिक और भौगोलिक पार्थक्य ने, जो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारकों में भिन्नताओं से जुड़ा था, राष्ट्रवाद की दूसरी लहर के लिए मंच तैयार किया जो कि बांग्लादेश के निर्माण में परिणत हुआ। यह राष्ट्रवाद के लिए एक ऐसा संघर्ष था जो 'राष्ट्र के भीतर राष्ट्र' वाला था। 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' यथा हिन्दू और मुस्लिम अलग-अलग राष्ट्रीयताओं का निर्माण करें, गलत सिद्ध हुआ।

श्रीलंका में स्वाधीनता संघर्ष एक शान्तिपूर्ण, क्रमिक और संवैधानिक तरीके से विकसित हुआ। दक्षिण एशिया के अन्य भागों से तुलना किए जाने पर, 1948 में श्रीलंका स्थिरता, शान्ति और व्यवस्था का नखलिस्तान था। सत्ता-हस्तांतरण सहज और शान्तिपूर्ण रहा जो कि देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रबल सूत्र के नरमपंथी रुख का प्रकटीकरण था, शायद ही कोई कड़वाहट या दरार थी।

नेपाल के मामले में, समस्या आंतरिक थी, यानी शाही परिवार और प्रतिक्रियावादी एवं निरंकुश राणा प्रणाली के बीच एक सत्ता-संघर्ष। राणा-विरुद्ध लोकतांत्रिक आन्दोलन प्रथम विश्व-युद्ध पश्चात् शुरू हुआ, जो कि 1947 में भारत की आज़ादी के उपरांत तेज हो गया। नेपाली कांग्रेस ने 1950 में राणा शासन के खिलाफ एक सशक्त आन्दोलन छेड़ दिया। भारत ने इस आन्दोलन को एक अनुक्त समर्थन दिया जो कि समय के साथ एक हिंसक सशस्त्र संघर्ष में बदल गया और फरवरी 1951 में एक संवैधानिक राजतंत्र हेतु मार्ग प्रशस्त किया।

भूटान में ब्रिटिश हित बहुत ही सीमित था। भारत की आज़ादी तक भूटान और ब्रिटिश सरकार के बीच संबंध मैत्रीपूर्ण बने रहे। गलती से भी ब्रिटेन ने भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नहीं सोची, सिवाए उसके विदेश संबंधों पर नियंत्रण रखने के। यह परम्परा भारत और भूटान के बीच 1949 की संधि के मार्फत स्वतंत्र भारत द्वारा जारी रखी गई।

मालदीव के मामले में, किसी भी पश्चिमी औपनिवेशिक शक्ति ने सीधे-सीधे मालदीव पर शासन नहीं किया, सिवाए पुर्तगालियों के जिन्होंने बहुत कम समय तक उस पर नियंत्रण स्थापित करने का जुगाड़ कर लिया था। 1887 व 1965 के बीच वह ग्रेट ब्रिटेन का एक संरक्षित राज्य रहा। आंतरिक मामलों एवं घरेलू राजनीति के व्यवहार में मालदीव स्थूलतः बेरोकटोक ही रहा। और यद्यपि संवैधानिक स्तर पर, कुछ निश्चित अर्थ में छोड़कर, उसने शान्ति अथवा सामाजिक संरचनाओं के प्रतिमान को कतई प्रभावित नहीं किया।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चन्द्र, विपिन (1989), *इण्डिया'ज़ स्ट्रगल फॉर इण्डिपेण्डेन्स*, दिल्ली

सरकार, सुमित (1983), *मॉडर्न इण्डिया 1885-47*, दिल्ली

वर्माना, आर.सी. (2000), *कोलोनिआलिज़्म एण्ड नैशनलिज़्म इन इण्डिया*, दिल्ली

दास, मित्रा (1981), *फ्रॉम नेशन टु नेशन*, मिनर्वा एसोशिएट्स, कलकत्ता

बनर्जी, सुब्रता (1981), बांग्लादेश, नई दिल्ली

डि सिल्वा, के. एम. (1977), श्रीलंका – ए सर्वे, लंदन

फड़निस, उर्मिला (1985), मालदीवज़ – विण्ड्स ऑफ़ चेन्ज इन ऐन अटॉल स्टेट, नई दिल्ली

सिन्हा, ए. सी. (2001), हिमालय किंगडम ऑफ़ भूटान, दिल्ली

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- 1) ये अतिवादी उग्र रूप से ब्रिटिश-विरोधी थे और देश के आर्थिक पुनरुत्थान को लक्ष्य मानते थे। उनके कार्यक्रमों में शामिल थे – विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, ब्रिटिश सरकार के साथ सभी संबंधों को तोड़ लेना, शिक्षार्थ राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना करना, और 'स्वदेशी' का प्रचार। उनके राजनीति-सिद्धांत ने लोगों में राष्ट्रीय गौरव, आत्म-सम्मान एवं आत्म-विश्वास का भाव जगाया। उन्होंने इसके साथ निम्न मध्यवर्ग, छात्रों व युवाओं को जोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार भी विस्तृत किया।
- 2) उर्दू को कार्यालयी भाषा के रूप में शुरू कर बंगालियों के बीच राष्ट्रवादी भावना को पाकिस्तानी सरकार द्वारा भड़काया गया। प्रभुत्वसम्पन्न पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार द्वारा बंगालियों के साथ किए गए आर्थिक एवं राजनीतिक सलूक ने भी बंगाली पहचान को मज़बूती प्रदान की। आर्थिक रूप से, पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच संबंध शोषणकारी था। राजनीतिक रूप से, पूर्वी पाकिस्तान की पाकिस्तान की राज्य संरचना में एक निम्नपदस्थ स्थिति थी। राजनीतिक एवं प्रशासनिक दोनों ही क्षेत्रों में बंगालियों को बाहर ही छोड़ दिया गया था।
- 3) सिंहलियों और तमिलों के बीच राजनीतिक मतभेद 1920 वें दशक में उभर कर आये। 1920 के संवैधानिक सुधारों ने, जो तदोपरान्त 1924 में संशोधित किए गए, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था दी। सिंहली नेतागण साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त करना चाहते थे और क्षेत्रीय हमने प्रतिनिधित्व को सार्वभौमिक बनाना। तमिल जिन्होंने अपने आप को अल्पसंख्यक मानना शुरू कर दिया था, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को बनाए रखना चाहते थे ताकि उनके समुदायों हेतु सत्ता सुरक्षित रहे।

बोध प्रश्न 2

- 1) मूलतः, चूँकि राणा प्रधानमंत्रियों की सत्ता नाज़ायज थी, राणा शासन निरंकुश और प्रतिक्रियावादी था। आधुनिक लोकतांत्रिक आकांक्षाओं ने राणा-विरुद्ध आन्दोलन को बढ़ावा दिया। 1940 वें दशक में, भारत से अंग्रेजों के चले जाने के बाद राणा शासकों ने उनका समर्थन गँवा दिया। जब निचले दर्जे के राणा परिवार के कुछ सदस्य राणा-विरोधी आन्दोलन में शामिल हो गए तो राणा शासन और अधिक कमज़ोर हो गया। राणा शासन को अंतिम झटका उस वक्त लगा जब नेपाल नरेश ने अपने सर्वसत्तात्मक दायित्वों को स्वीकार कर लेने में तत्परता दिखाई।
- 2) उज़ेन वांग्चुक
- 3) 26 जुलाई, 1965